विंश अध्याय

वैदिक आर्थिक जीवन

वैदिक काल में आर्यों की आर्थिक दशा अत्यन्त समुन्नत थी। उन्हें किसी वस्तु का अभाव नहीं था। जीबन के लिये उपयोगी हर वस्तु का उत्पादन वे स्वयं करते थे। नाना प्रकार के उद्योग अर्थोपार्जन के लिये प्रचलित थे। प्रत्येक व्यक्ति को कार्य करने तथा अर्थोपार्जन की पूर्ण स्वतन्त्रता थी। भौतिक जीवन का सुख आर्थिक समुन्नति पर ही निर्भर करता है, इसलिये आर्य सदा यही प्रार्थना करते थे कि वे हर प्रकार के धन के स्वामी बनें; उनका जीवन कभी भी अभावग्रस्त न हो। अन्न, जन, पशु, हिरण्य आदि उनकी प्रमुख सम्पत्ति थी।

कृषि –

सभी प्रकार के धनों में अन्न सबसे महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यही जीवन का साधन है। अन्न के बिना कोई भी नहीं रह सकता। इसलिये *'अन्नं बहु कुर्वीत'* यह आर्यों के आर्थिक जीवन का सूत्रवाक्य था। आर्य कृषिप्रधान जाति थी। उनका प्रमुख कार्य कृषिकर्म था। उनकी आजीविका का यही प्रमुख साधन था। वे केवल कृषिकर्म से परिचित ही नहीं थे बल्कि एक निपुण कृषक थे, जिन्हें मालूम था कि किस ऋतु में किस अन्न को प्रचुर मात्रा में उत्पन्न किया जा सकता है। भूमि को अधिक उपजाऊ बनाने के लिये किन साधनों का उपयोग किया जाना चाहिये, यह उन्हें अच्छी प्रकार से मालूम था। ऋ.वे. में कृषि-कर्म में सहायक तथा कृषि से सम्बन्धित उपकरणों का भूरिशः उल्लेख मिलता है। हल के लिये 'सीर' (ऋ.वे. ४.५७.८; १०.१०१.३,४) तथा 'लाङ्गल' (ऋ.वे. ४.५७.४) शब्द का प्रयोग मिलता है। भूमि को जोतने के लिये इसी का प्रयोग होता था। इसे बैल खींचते थे। दो, चार, छः, आठ, बारह तथा चौबीस बैलों के भी हल में जोते जाने का उल्लेख मिलता है। बैलों की गर्दन के साथ जुआ को

Scanned with CamScanner

बाँधने वाली रस्सी 'वरत्रा' (ऋ.वे. ४.५७.४) कहलाती थी। कूप से जल निकालने के लिये घड़े में बाँधी जाने वाली रस्सी के लिये भी 'वरत्रा' शब्द का प्रयोग मिलता है (ऋ. वे. १०.१०६.५)। बैलों को हाँकने वाला चाबुक 'अष्ट्रा' था (ऋ.वे. ४.५७.४; १०. १०२.८)। हल के नीचे लगी लोहे की पत्ती का नाम 'फाल' था, जिससे भूमि जोती जाती थी (ऋ.वे. ४.५७.८; १०.११७.७)। फाल से खेत में जो रेखा बनती थी उसका नाम 'सीता' था (ऋ.वे.४.५७.६,७)। हल की मूंठ को 'तसरु' कहते थे (अ.वे. ३.१७. ३)। हल जोतने वाले के लिये 'कीनाश' शब्द का प्रयोग किया गया है (ऋ.वे. ४.५७.८; अ.वे. ४.११.१०; ६.३०.१) जो सम्भवतः 'किसान' शब्द का पूर्वरूप है। ऋ.वे. के एक स्वतन्त्र सूक्त (४.५७) में सम्पूर्ण कृषिकर्म का उल्लेख मिलता है। प्रारम्भ के तीन मन्त्रों में क्षेत्र के स्वामी देवता 'क्षेत्रपति' से कृषि के लिये अनुकूल होने, पर्याप्त वर्षा करने तथा सभी प्रकार के अरिष्टों से रक्षा करने के लिये प्रार्थना की गई है। शेष पाँच मन्त्रों में कृषि-विषयक प्रत्येक कार्य की सफलता की प्रार्थना है[1] । इस सूक्त में वाहाः (बैल), लाङ्गल (हल), वरत्रा (रस्सी), अष्ट्रा (चाबुक), सीता (फाल की रेखा), फाल, कीनाश आदि शब्दों का प्रयोग इस बात की पुष्टि करता है कि आर्य कृषिकर्म में पूर्ण निष्णात थे। कृषिकर्म वैदिक ऋषियों के मन्त्र का भी विषय बना, यह कृषिकर्म की प्रधानता का द्योतक है। एक मन्त्र में तो ऋषि उपदेश देता है कि *"कृषिमित्कृषस्व वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः"* (ऋ.वे. १०.३४.१३) अर्थात् कृषि ही करो और उससे प्राप्त वित्त को ही पर्याप्त समझते हुये उसमें प्रसन्न रहो।

कृषिभूमि के लिये 'क्षेत्र' शब्द का प्रयोग मिलता है। इससे पता चलता है कि सबके खेत अलग-अलग होते थे (ऋ.वे. १०.३३.६)। इन खेतों का माप होता था (ऋ.वे. १. ११०.५)। खेत पर व्यक्ति का पूर्ण अधिकार होता था (ऋ.वे. ८.६१.५)। यह बात उल्लेखनीय है कि खेत परिवार के मुखिया पिता के अधिकार में होता था। पिता की मृत्यु के बाद ही वह पुत्रों के अधिकार में आता था। पिता के रहते खेतों का विभाजन नहीं होता था। भूमि दो प्रकार की थी 'उर्वरा' तथा 'आर्तना' (ऋ.वे. १.१२७.६)। जो

---

१. शुनं वाहाः शुनं नरः शुनं कृषतु लाङ्गलम्। शुनं वरत्रा बध्यन्तां शुनमष्ट्रामुदिङ्गय।।
शुनासीराविमां वाचं जुषेथां यद्दिवि चक्रथुः पयः। तेनेमामुप सिञ्चतम्।।
अर्वाची सुभगे भव सीते वन्दामहे त्वा। यथा नः सुभगाससि यथा नः सुफलाससि।।
इन्द्रः सीतां निगृह्णातु तां पूषानु यच्छतु। सा नः पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम्।।
शुनं नः फाला वि कृषन्तु भूमिं शुनं कीनाशा अभि यन्तु वाहैः।
शुनं पर्जन्यो मधुना पयोभिः शुनासीरा शुनमस्मासु धत्तम्।। -ऋ.वे. ४.५७.४-८।

Scanned with CamScanner

भूमि उपजाऊ होती थी वह 'उर्वरा' या 'अप्नस्वती' कहलाती थी, तथा जो भूमि बीज बोने के योग्य नहीं होती थी उसे 'आर्तना' कहते थे। जमीन को उपजाऊ बनाने के लिये उसमें खाद (करीष) डाला जाता था (अ.वे. ३.१४.३, ४; १६.३१.३)। अ.वे. १२. ४.६ में एक औरत द्वारा खेत में गोबर डालने का उल्लेख है। अपाला इन्द्र से प्रार्थना करती है कि उसके पिता की जो ऊषर भूमि है वह उर्वरा बने (ऋ.वे. ८.६१.५)। जमीन के उर्वरा होने के साथ सन्तानोत्पत्ति की तुलना की गई है (ऋ.वे. ४.४१.६)। उर्वरा भूमि के चारों तरफ घास वाली भूमि होती थी जो सबकी साझी होती थी। उसमें सबके पशु चरते थे। वह जमीन 'खिल' या 'खिल्या' कहलाती थी। जमीन विशेष प्रकार की अचल सम्पत्ति थी जिसे सामान्यतः खरीदा या बेचा नहीं जा सकता था। किन्तु ऋत्विजों को भूमि दान में दी जा सकती थी (श.ब्रा. १३.६.२.१८; ७.१.१३; १५)। छा. उप. ७.२४.२ में भी भूमिदान का उल्लेख है।

कृषि को हानि न होने पाये इसके लिये लोग हमेशा सचेत रहते थे। पक्षी, कीड़े आदि फसल को नष्ट कर देते थे। ऋ.वे. १०.६८.१ में पक्षियों से फसल की रक्षा करने वाले कृषकों के शब्द करने का उल्लेख मिलता है। टिड्डी कृषि के बड़े शत्रु थे। छा.उप; १.१०.१ में उनके लिये 'मटची' शब्द का प्रयोग किया गया है। एक बार मटचियों ने कुरुक्षेत्र की सम्पूर्ण कृषि को नष्ट कर दिया था जिसके कारण वहाँ अकाल पड़ गया था। आर्य अपनी फसल की रक्षा के लिये अभिचार भी करते थे। अ.वे. ६. ५० सम्पूर्ण सूक्त कृषि की कीटों से रक्षा के लिये किये जाने वाले अभिचार का उल्लेख करता है। अतिवृष्टि तथा अनावृष्टि दोनों से फसल की रक्षा के लिये देवताओं से प्रार्थना की जाती थी।

फसल के पकने पर उसे दात्र (हंसिया) से काटते थे (ऋ.वे. ८.७८.१)। उसी के प्रकार का एक 'सृणी' (अङ्कुश) होता था जिससे फसल काटने के अतिरिक्त वृक्ष से पका फल भी तोड़ा जाता था (ऋ.वे. १.५८.४; १०.१०१.३; १०६.६; श.ब्रा. ७.२.२. ५)। फसल को काट कर उसे पुल्लियों में बाँधते थे जिसे 'पर्ष' कहते थे (ऋ.वे. १.५८. ७; श.ब्रा. ८.४.२.५)। इन पुल्लियों को खलिहान में लाया जाता था जिसे 'खल' कहते थे (ऋ.वे. १०.४८.७)। ऋ.वे. १०.१०१.३ इस एक मन्त्र में कृषिकर्म की सम्पूर्ण प्रक्रिया का एकत्र उल्लेख है-

युनक्तु सीरा वि युगा तनुध्वं कृते योनौ वपतेह बीजम्।
गिरा च श्रुष्टिः सभरा असन्नो नेदीय इत्सृण्यः पक्वमेयात्।।

Scanned with CamScanner

मड़ाई के बाद शूर्प से अन्न और भूसे को अलग किया जाता था। धान्य को भूसे से अलग करने वाले को 'धान्यकृत्' कहा जाता था (ऋ.वे. १०.६४.१३)। अनाज को 'उर्दर' नामक पात्र से नाप कर कोठिलों में रखते थे। जिस भण्डार में अनाज रखते थे उसको 'स्थिवि' कहते थे (ऋ.वे. १०.६३.३)।

पशुपालन -

कृषि के साथ-साथ आर्यों की आजीविका का दूसरा प्रमुख साधन पशु-धन था। कृषि-प्रधान समाज में पशु का महत्त्व वैसे ही बढ़ जाता है, क्योंकि उसके बिना कृषिकर्म हो नहीं सकता। पुरुषसूक्त में तीन प्रकार के पशुओं का उल्लेख मिलता है-वायव्य, आरण्य और ग्राम्य (ऋ.वे. १०.६०.८)। तै.सं. ४.२.१० में आरण्य पशुओं में सिंह, मयु, गौर, गवय, ऊष्ट्र तथा शरभ का उल्लेख है। ऋ.वे. में अश्व, गो, अजा और भेड़ (अवि) को प्रमुख माना गया है, क्योंकि इनकी उत्पत्ति सर्वहुत् यज्ञरूप परमेश्वर से हुई है। (ऋ.वे. १०.६०.१०)। पशुओं की दो श्रेणियाँ की गई हैं- उभयदन्त (ऋ.वे. १०.६०.१०; तैसं. २.२.६.३) तथा अन्यतोदन्त (तैसं. २.१.१.५; ५.१.२.६; ५.१.३)। उभयदन्त में अश्व तथा गर्दभ आते हैं और अन्यतोदन्त में गो है ***यदन्यतोदत् तद् गवां रूपम्***-तै.सं. २.१.१.६। अ.वे. ५.३१.३ में गर्दभ को उभयदत् बताया गया है। अ.वे. ५.१६.२ में भेड़ के लिये भी उभयदत् विशेषण प्रयुक्त है। तै.सं. ४.३.१०.२ तथा वा.सं. १४.३० में पशुओं का एक विभाग 'एकशफ' तथा 'क्षुद्र' रूप में किया गया है। अश्व तथा गर्दभ एकशफ हैं तथा भेड़, बकरी तथा गो क्षुद्र हैं। पशुओं का एक अन्य विभाग 'हस्तादान' तथा 'मुखादान' के रूप में किया गया है (तैसं. ६.४.५.७)। हस्तादान वे पशु हैं जो हाथ से भोजन करते हैं जैसे हस्ती, मर्कट। उल्लेखनीय है कि यहाँ मनुष्य को भी 'हस्तादान' पशु ही माना गया है। मुखादान वे पशु हैं जो मुख से भोजन करते हैं।

गाय- आर्थिक तथा धार्मिक दोनों दृष्टियों से आर्यों की सबसे महत्त्वपूर्ण और उपयोगी पशु गाय थी। अन्न को छोड़कर भोजन के लिये दूध, दही, घृत आदि सब गाय से ही प्राप्त होता था। श.ब्रा. ३.३.३.२ में स्पष्ट रूप से इस बात का उल्लेख किया गया है कि गाय से ही दूध, दधि, मस्तु, आतंचन, नवनीत, घृत, आमिक्षा तथा वाजिन् प्राप्त होता है।[1] अग्निहोत्र के लिये दूध, घृत आदि गाय से प्राप्त होता था इसलिये गाय

---

१. गोर्वै प्रति धुक् तस्यै श्रृतं तस्यै शरः तस्यै मस्तु तस्या आतञ्चनं तस्यै नवनीतं तस्यै घृतं तस्या आमिक्षा तस्यै वाजिनम्। -श.ब्रा. ३.३.३.२

Scanned with CamScanner

का एक नाम 'अग्निहोत्री' था। दक्षिणा में गायें दी जाती थीं इसलिये 'दक्षिणा' शब्द भी गाय का वाचक बन गया था। गाय बहुमूल्य मानी जाती थी, इसलिये सोमयाग में सोम का क्रय करते समय विक्रेता को मूल्यरूप में गाय ही दी जाती थी।[1] सोम भी बहुमूल्य माना जाता था। ऋ.वे. मे भी गाय की महिमा का विशेष रूप से उल्लेख किया गया है।[2]

एक सम्पूर्ण सूक्त गाय की महिमा में सम्बोधित है।[3] गायों का महत्त्व केवल धार्मिक ही नहीं बल्कि व्यावहारिक भी था। गायें ही दुबलों को स्थूल बनाती हैं, गायें ही शोभारहित व्यक्ति को सुशोभित बनाती हैं, गायें घर पर सुन्दर आवाज कर घर की शोभा बढ़ाती हैं। इसीलिये एक आर्य-परिवार की समृद्धि की द्योतक गो-सम्पत्ति ही थी। सामान्य आर्यजन, ऋषि तथा राजा सभी गाय रखते थे। ऋषिकुलों तथा राजाओं के यहाँ तो सहस्रों की संख्या में गायें होती थीं।

रंग, अवस्था, दूध देने-न-देने, व्याने-न-व्याने आदि के आधार पर गायों के कई नाम वैदिक साहित्य में मिलते हैं। सफेद गाय को 'ककी' (अ.वे. ४.३८.६.७) तथा 'शुक्रा', चितकवरी को 'पृश्नी', काली को 'कृष्णा' तथा लाल को 'रोहिणी' (ऋ.वे. १.

---

१. महाँस्त्वेव गोर्महिमा। -श.ब्रा. ३.३.३

२. माता रुद्राणां दुहिता वसूनां स्वसादित्यानाममृतस्य नाभिः।
प्र नु वोचं चिकितुषे जनाय मा गामनागामदितिं वधिष्ट।। -ऋ.वे. ८.१०१.१५

३. आ गावो अग्मन्नुत भद्रमक्रन्त्सीदन्तु गोष्ठे रणयन्त्वस्मे।
प्रजावतीः पुरुरूपा इह स्युरिन्द्राय पूर्वीरुषसो दुहानाः।।
इन्द्रो यज्वने पृणते च शिक्षत्युपेद्ददाति न स्वं मुषायति।
भूयोभूयो रयिमिदस्य वर्धयन्नभिन्ने खिल्ये नि दधाति देवयुम्।।
न ता नशन्ति न दभाति तस्करो नासामामित्रो व्यथिरा दधर्षति।
देवाँश्च याभिर्यजते ददाति च ज्योगित्ताभिः सचते गोपतिः सह।।
न ता अर्वा न रेणुककाटो अश्नुते न संस्कृतत्रमुप यन्ति ता अभि।
उरुगायमभयं तस्य ता अनु गावो मर्तस्य वि चरन्ति यज्वनः।।
गावो भगो गाव इन्द्रो मे अच्छान् गावः सोमस्य प्रथमस्य भक्षः।
इमा या गावः स जनास इन्द्र इच्छामीद्धृदा मनसा चिदिन्द्रम्।।
यूयं गावो मेदयथा कृशं चिदश्रीरं चित्कृणुथा सुप्रतीकम्।
भद्रं गृहं कृणुथ भद्रवाचो बृहद्वो वय उच्यते सभासु।।
प्रजावतीः सूयवसं रिशन्तीः शुद्धा अपः सुप्रपाणे पिबन्तीः।
मा वः स्तेन ईशत माघशंसः परि वो हेती रुद्रस्य वृज्याः।।
उपेदमुपपर्चनमासु गोषूप पृच्यताम्।
उप ऋषभस्य रेतस्युपेन्द्र तव वीर्ये।। -ऋ.वे. ६.२८.१-८

६२.६) कहते थे। वत्स से पेन्हाने वाली को 'प्रत्ता' (तैसं. २.२.६.२), प्रथम बार व्याने वाली गाय को 'गृष्टि' (ऋ.वे. ४.१८.१०; अ.वे. २.१३.३; ८.६.२४; १६.२४.५), दुधारु गाय को 'धेना' (ऋ.वे. ३.३४.३; ५.६२.२) या 'धेनु' (ऋ.वे. १.३२.६; १३४. ४; २.२.२; ६.१३५.८; इत्यादि; अ.वे. ५.१७१८; ७.१०४.१; तैसं. २.६.२.३; मै.सं. ४.४.८; वा.सं. १८.२७ इत्यादि) कहा जाता था। 'धेनुका' शब्द का भी प्रयोग मिलता है (अ.वे. ३.२३.४; पं.विं.ब्रा. २५.१०.२३)। दूध देना बन्द कर देने वाली गाय के लिये 'धेनुष्टरी' (काठ.सं. १३.६; मै.सं. २.५.४), एक बार व्याने के बाद बाँझ होने वाली के लिये 'सूतवशा' (तै.सं. २.१.५.४; ६.१.३.६; काठ.सं. २७.५; तै.ब्रा. २.७.४.१ इत्यादि), अकाल में गर्भ गिर जाने वाली के लिये 'वेहत्' (अ.वे. १२.४.३७; वा.सं. १८.२७; १६.१; तै.सं. २.१.५.३) शब्दों का प्रयोग मिलता है। जिस गाय का बछड़ा मर जाता था उसे दूसरे बछड़े से पेन्हाने के लिये मनाना पड़ता था, ऐसी गाय को 'निवान्यवत्सा' (श.ब्रा. १२.५.१.४), 'निवान्या' (श.ब्रा. २.६.१.४), 'अभिवान्यवत्सा' (ऐ.ब्रा. ७.२), 'अभिवान्या' (तै.ब्रा. १.६.८.४.) या 'वान्या' (तै.ब्रा. २.६.१६.२) नामों से पुकारते थे। कभी न व्याने वाली बाँझ गाय को 'स्तरी' (ऋ.वे. १.१०१.३; ११६.२२; ११७.२० इत्यादि) तथा 'वशा' (अ.वे. ७.११३.२) कहते थे। अवस्था के आधार पर डेढ़ वर्ष की बछिया को 'त्र्यवी', दो साल की बछिया को 'दित्यौही' ढाई साल की गाय को 'पंचावी', तीन साल वाली को 'त्रिवत्सा', साढ़े तीन साल वाली को 'तुर्यौही', चार साल वाली को 'प्रष्ठौही' कहते थे (वा.सं. १८.२६-२७)।

वैदिक काल में गायों के कानों पर एक विशिष्ट संख्या या कोई अन्य चिह्न अंकित करने की प्रथा थी। ऋ.वे. १०.६२.७ में 'अष्टकर्णी' का उल्लेख मिलता है। सम्भवतः आठ का अंक चिह्नित होने के कारण उसे इस नाम से जाना जाता होगा। मै.सं. ४.२. ६ में इसी प्रकार की 'कर्करिकर्णी', 'दात्रकर्णी', 'स्थूणाकर्णी', 'छिद्रकर्णी', 'विष्टकर्णी' आदि गायों का उल्लेख मिलता है। अ.वे. ६.१४१.१-३ में गायों के कानों को छेद कर चिह्नित करने की प्रथा का स्पष्ट रूप से उल्लेख किया गया है। चिह्न के लिये 'लक्ष्मन्' शब्द का प्रयोग है। लोहे की क्षुरिका से यह चिह्न किया जाता था (अ.वे. ६.१४१.२)। मै.सं. तेजन या लोहे के क्षुरिका से चिह्नित करने का निषेध करती है। वहाँ इक्षु के टुकड़े से या ताम्बे की क्षुरिका से छेद करने का विधान है। अ.वे. में मिथुन का चिह्न अंकित करने का उल्लेख है जो सम्भवतः गाय की प्रजनन शक्ति का द्योतक है। गायों के कानों को छेदने की प्रथा वैदिक काल से चली आ रही है। पाणिनि के समय तक इसका

Scanned with CamScanner

संकेत मिलता है (पा. ६.३.११५)।

गायों को तीन बार दुहा जाता था- प्रातःकाल, दोपहर से पूर्व तथा सायंकाल। इनको क्रमशः 'प्रातर्दोह', 'संगव' (ऋ.वे. ५.७६.३; अ.वे. ९.६.४) तथा 'सायंदोह' (तैसं. ७.५.३.१) कहा जाता था। प्रातर्दोह में गाय अधिक दूध देती थी किन्तु संगव तथा सायंदोह में दूध कम होता था (तैसं. ७.५.३.१,३)। प्रातर्दोह के बाद गायें चरागाह में चरने के लिये भेजी जाती थीं; दिन की गर्मी के समय वे 'संगविनी' (गायों की धूप से रक्षा के लिये निर्मित छायादार स्थान) में रहती थीं जहाँ उनका दोहन होता था और पुनः चरने के लिये भेजी जाती थीं (तै.ब्रा. १.४.९.२)। वहाँ से सायंकाल घर पर आती थीं (ऋ. वे. १.६६.५)। ऐ.ब्रा. ३.१८ में भरतों की गायों के सन्ध्याकाल गोष्ठ में रहने तथा संगव काल में संगविनी में रहने का उल्लेख है। सायण का कथन है कि जो दूध देने वाली गायें थीं वे सन्ध्या के समय घरों (शाला) में आती थीं, जो दूध देने वाली नहीं थीं वे चरागाह (गोष्ठ) में ही रहती थीं। संगव तथा सायंकाल बछड़े अपनी माँ के साथ रहते थे। संगवकाल में दूध देने वाली तथा न देने वाली गायें सभी संगविनी में रहती थीं। संगविनी एक प्रकार की गोशाला थी। संगवकाल से पूर्व का समय जब गायें चरागाह में होती थीं 'स्वसर' कहलाता था (ऋ.वे. २.२.२; ३४.८; ५.६२.२; ८.८८.१; ९.९४.२ इत्यादि)। इस स्वसरकाल में बछड़े गाय से अलग रहते थे। दूहने के समय बछड़े से पेन्हाने वाली गाय के लिये 'प्रत्ता' शब्द का प्रयोग मिलता है (तै.सं. २.३.६.२)।

चरागाहों में गाये 'गोपा' या 'गोपाल' (वा.सं. ३०.११) के संरक्षण में रहती थीं। गोपालक के हाथ में 'अष्ट्रा' (ऋ.वे. ७.५३.६) तथा 'पवीर' (ऋ.वे. १०.६०.३) होता था जिससे वह गायों को हाँकता था। कहीं कोई गाय चुरा न ली जाय, कहीं स्वयं गुम न हो जाय, कहीं किसी कुँयें या खाई में न गिर जाय, कोई हिंसक पशु उसे मार न डाले इन सबसे रक्षा करना गोपालों का प्रमुख कार्य था (ऋ.वे. १.१२०.६; ६.५४.५-७)। गायों के रक्षक के रूप में पूषन् देवता की उपासना आर्य करते थे।

अजा- दूध देने वाले पशुओं में गाय के अतिरिक्त 'अजा' थी जिसको आर्य पालते थे। वा.सं. ३०.११ में बकरी पालने वालों के लिये 'अजपाल' शब्द का प्रयोग किया गया है। अजा के दूध से होम करने का उल्लेख मिलता है (तै.सं. ५.१.७. १३;४.३.२)। प्रवर्ग्य में गो-क्षीर के साथ अज-क्षीर की भी आहुतियाँ दी जाती थीं।

अनड्वाह- दूध देने वाले पशुओं में जिस प्रकार गाय प्रमुख थी उसी प्रकार कृषि-कर्म के लिये बैल प्रमुख पशु था। बैल के लिये वृषभ, उक्षन्, ऋषभ, गौ, वाह,

Scanned with CamScanner

अनडुह् आदि कई शब्दों का प्रयोग मिलता है। हल जोतने, खलिहान में अनाज की मड़ाई करने, सामान ढोने, तथा अनस् एवं शकट में अनाज ढोने के काम में बैलों का उपयोग था। अनस् (गाड़ी) खींचने के कारण ही उसे 'अनडुह्' कहा जाता था (ऋ.वे. ३.५३.१८; १०.५९.१०; अ.वे. ३.११.५; ४.११.१; ऐ.ब्रा. १.१४; श.ब्रा. २.१.४.१७ इत्यादि)। बैल के लिये 'अघ्न्य' (ऋ.वे. ३.३३.१३) विशेषण का प्रयोग मिलता है। वैदिक काल में सभी कृषक बैल रखते थे। गाय की तरह बैल भी आर्यों की समृद्धि का द्योतक था। अच्छे किसान दो से अधिक बैल रखते थे (अ.वे. ६.११.१; ८.९.१६; तै.सं. १. ८.७.१; ५.२.५.२; मै.सं. २.६.२; काठ.सं. १५.२; २०.३; श.ब्रा. ७.२.२.६; १३. ८.२.६ इत्यादि)। हल में जोते जाने वाले तथा गाड़ी खींचने वाले वधिया (वध्रि) होते थे (ऋ.वे. १.३२.७; ३३.६; १०.१०२.१२)। जो वधिया नहीं किये जाते थे उनको कृषिकर्म में नहीं लगाया जाता था। वे गायों के साथ रहते थे।

अश्व- वैदिक काल में आर्यों का युद्ध का प्रमुख पशु अश्व था। इसके ऊपर सवारी की जाती थी। ये बड़े कीमती होते थे (ऋ.वे. १.६३.१; ४.३२.१७; ५.४.११; ८.७८.२ इत्यादि)। इनको विशेष अवसरों पर हीरे, मोतियों तथा स्वर्णाभूषणों से सजाया जाता था (ऋ.वे. १०.७८.११)। वैदिक-साहित्य में अश्व के वाचक अत्य, अर्वन्, वाजिन्, सप्ति, हय आदि अनेक शब्दों का प्रयोग मिलता है। अनेक रंग के अश्वों का उल्लेख मिलता है जैसे- हरित, हरी, अरुण, अरुष, पिशङ्ग, रोहित, श्यावा, श्वेत आदि। काले कान वाले श्वेतवर्ण के अश्व को बहुमूल्य माना गया है (अ.वे. ५.१७.१५)। एक बहुमूल्य अश्व जब वृद्ध हो जाता है तो उसका महत्त्व घट जाता है (ऋ.वे. १०.३४.३)।

वैदिक काल में बहु संख्या में अश्वों को पाला जाता था। राजाओं के यहाँ अश्वसेना होती थी जिसमें अच्छी नस्ल के अश्व रखे जाते थे। सिन्धुप्रदेश अश्व के लिये प्रसिद्ध था। यहाँ के अश्वों के लिये 'सैन्धव' शब्द का प्रयोग मिलता है (श.ब्रा. ११.५.५.१२; बृह.उप. ६.२.१३)। अश्वों को अश्वशाला में रखा जाता था और वहीं पर उनको खिलाया जाता था (अ.वे. ६.७७.१; १९.५५.१)। ऋ.वे. ९.८६.४१ में 'अश्वपस्त्य' शब्द का उल्लेख मिलता है। अश्व को घास देने का उल्लेख कई मन्त्रों में मिलता है (अ.वे. १९.५५.१)। चरागाह से भी घोड़ों के घर आने का उल्लेख मिलता है (वा.सं. १५.४१)। अस्तबल में अश्व को उसके पिछले पैर बाँध कर रखा जाता था। बाँधने वाली रस्सी का नाम 'पड्बीश' था (ऋ.वे. १.१६२.१४; १६; बृह.उप.६.२.१३; छा. उप. ५.१.१२; शां.आर. ९.७)। इस पड्बीश को जमीन पर गड़ी एक खूँटी में बाँधा

Scanned with CamScanner

जाता था। उपनिषद् में सैन्धव अश्व को खूँटी को तोड़ने वाला दिखाया गया है। अश्व के सईस के लिये 'अश्वपति' (वा.सं. १६.२४; काठ.सं. १७.१३) तथा 'अश्वप' (वा. सं. ३०.११; तै.ब्रा. ३.४.६.१) शब्दों का प्रयोग किया गया है। अश्व के लगाम के लिये 'रश्मि', अथवा 'प्रग्रह', गर्दन में बाँधने वाली रस्सी के लिये 'अश्वाभिधानी' (अ.वे. ४. ३६.१०; ५.१४.६; ऐ.ब्रा. ६.३५; श.ब्रा. ६.३.१.२६; १३.१.२.१) तथा कोड़े के लिये 'अश्वाजनि' (ऋ.वे. ५.६२.७; ६.७५.१३; वा.सं. २६.५०) तथा 'कशा' (ऋ.वे. ५. ६३.३; ६.७५.६) शब्दों का प्रयोग मिलता है। अश्व की पूँछ के बाल के लिये 'अश्व्य वार' (ऋ.वे. १.३२.१२) शब्द का प्रयोग मिलता है।

अश्व जहाँ सवारी के उपयोग में आता था वहाँ रथ में भी उसे जोता जाता था। रथों में वस्तुतः अश्व ही जोते जाते थे (ऋ.वे. १.२५.३; १०.३३.५)। रथ में अश्वों की तरह घोड़ियों को भी जोता जाता था जिन्हें 'अश्वा' (ऋ.वे. ३.३३.१) या 'वडवा' (तै.सं. ७.१.१.२; तै.ब्रा. १.८.६.३; श.ब्रा. ६.५.२.१६ इत्यादि) कहा जाता था। इनको अश्व से भी तेज चाल वाली माना गया है (ऋ.वे. १.१२६.३; ७.१८.२२)।

बैल तथा अश्व के अतिरिक्त भारवाही पशुओं में ऊँट, गर्दभ, खच्चर (अश्वतर), खच्चरी (अश्वतरी) आदि प्रमुख थे। गर्दभ को पशुओं में अधिक भार वहन करने वाला माना गया है।[1] हल्का भार ढोने के लिये कुत्ते का भी उपयोग होता था (ऋ.वे. ८.४६. २८)। कुत्ता एक पालतू विश्वसनीय पशु था जो घर की रखवाली करता था तथा शिकार में भी सहायता करता था। ऊन के लिये भेड़ भी पाली जाती थी। भेड़ पालने वाले के लिये 'अविपाल' शब्द का प्रयोग मिलता है (वा.सं. ३०.११)। वैदिक काल में हाथी भी पालने का उल्लेख मिलता है (ऋ.वे. १.६४.७; ४.१६.१४; अ.वे. ३.२२.३; ४.३६.६; ६.३८.२ इत्यादि)। पिलवान को 'हस्तिप' कहा जाता था (वा.सं. ३०.११)। यद्यपि यह जंगली पशु था, किन्तु इसे जंगल से बझाकर लाया जाता था और राजा लोग इसे रखते थे। यह बहुत शक्तिशाली पशु था। मुखादान पशुओं की तुलना में इसे 'हस्तादान' पशुओं की श्रेणी में परिगणित किया गया है (तै.सं. ६.४.५.७; मै.सं. ४.५.७)। महिष और महिषी का भी उल्लेख मिलता है (ऋ.वे. ५.२६.७; ६.६७.११६ ८.१२.८; वा.सं. २४.२८; महिषी- काठ.सं. ३५.६; मै.सं. ३.८.५; षवि.ब्रा. ५.७.११)। किन्तु इनको जंगली पशु माना गया है।

---

१. गर्दभः पशूनां भारभारितमः। -तै.सं. ५.१.५.५

Scanned with CamScanner

उद्योग-धन्धे-

कृषि और पशुपालन के अतिरिक्त इनसे ही सम्बन्धित अन्य भी कई उद्योग थे जिसे लोग करते थे। इन उद्योगों में काष्ठ-उद्योग, धातु-उद्योग, मृत्पात्र-उद्योग, वस्त्र-उद्योग, चर्म-उद्योग, व्यापार आदि प्रमुख थे।

काष्ठ-उद्योग- वैदिक अर्थ-व्यवस्था का प्रमुख अंग काष्ठ-उद्योग था। यह उद्योग मुख्यरूप से तक्षा (बढ़ई) के अधीन था। कृषि के उपयोग में आने वाले लकड़ी से तैयार होने वाले सभी उपकरणों का निर्माण तक्षा ही करता था। यदि किसी कृषक को कृषि-सम्बन्धी किसी काष्ठोपकरण की आवश्यकता होती थी तो वह उसी के पास जाता था और उससे तैयार करवाता था। हल, सामान ढोने की गाड़ी, घर में उपयोग आने वाले तथा यज्ञोपयोगी सभी काष्ठोपकरण का भी निर्माण वही करता था। सूक्ष्म नक्काशी का काम भी तक्षा करता था (काठ सं. १२.१०)। इसके प्रमुख औजार थे जिनसे वह अपना कार्य करता था। 'भुरिज्' भी सम्भवतः एक उपकरण था जिसके दो हाथ होते थे और इसी पर लकड़ी को स्थिर करके तक्षा कार्य करता था (ऋ.वे. ४.२.१४; ६.२६. ४; ७१.५)। तक्षा को अपना कार्य करते समय उसकी पीठ में उत्पन्न पीड़ा का उल्लेख ऋ.वे. १.१०५.१८ में मिलता है। मन्त्रद्रष्टा ऋषि-कवियों के मन्त्रनिर्माण की तुलना तक्षण-कर्म से की गई है (ऋ.वे. १.६२.१३)। वैदिक देवताओं में 'त्वष्टा' नामक देवता का सम्बन्ध तक्षण-कर्म से माना गया है। सम्भवतः काष्ठ-उद्योग वाले उस त्वष्टा की उपासना करते हों।

काष्ठ-उद्योग के अन्तर्गत रथ बनाने का भी उद्योग था। जो इस उद्योग को करता था उसकी 'रथकार' संज्ञा थी। ये तक्षा से अलग थे। वा.सं. ३०.६ में इन्हें तक्षा से अलग परिगणित किया गया है। इनका सम्बन्ध राजपरिवार से होता था, क्योंकि रथों का उपयोग राजा ही करते थे। राजाओं की सेना में रथसेना प्रमुख थी, इसलिये रथों के निर्माण का उद्योग स्वतन्त्र रूप से रथकार करते थे (अ.वे. ३.५.१)। यजुर्वेद की संहिताओं में रथकार का जाति-विशेष के रूप में उल्लेख मिलता है (काठ.सं. १७.१३; मै.सं. २.६.५; वा.सं. १६.२७; ३०.६; तै.ब्रा. १.१.४.८; ३.४.२.१; श.ब्रा. १३.४.२. १७)। रथकार के औजारों में 'कुलिश' का उल्लेख मिलता है (ऋ.वे. ३.२.१)।

धातु-उद्योग- धातु का उद्योग करने वालों में लोहार (कर्मार), हिरण्यकार, मणिकार आदि प्रमुख थे। कृषि के उपयोग में आने वाले लोहे से बनने वाले सभी उपकरणों का निर्माण लोहार (कर्मार) करता था (ऋ.वे. ६.११२.२; १०.७२.२; अ.वे. ३.५.६; काठ.

Scanned with CamScanner

सं. १७.१३; मै.सं. २.६.५; वा.सं. १६.२७; ३०.७)। अ.वे. ३.५.६ में कर्मार का उल्लेख धीवन् तथा रथकार के साथ एक कुशल कारीगर (मनीषिणः) के रूप में किया गया है। कर्मार के काम का उल्लेख करते समय यह बताया गया है कि वह लोहे को अग्नि में तपाकर उसे गलाकर वर्तन बनाता था, इसीलिये उसे 'ध्मातृ' कहा गया है (ऋ.वे. ५.६.५)। 'ध्मातृ' के दो अर्थ हैं- धौंकने वाला तथा धातु को गलाने वाला। वस्तुतः ये दोनों कार्य कर्मार के थे। धौंकनी की सहायता से वह धातु को गलाता था। पुरानी औषधियों तथा पक्षियों के पंख से वाणों का निर्माण करता था। वाणों में पक्षियों के पंख लगाने का भी काम वही करता था (ऋ.वे. ६.११२.२)। ऋ.वे. ६.७५.१५ में दो प्रकार के वाणों का उल्लेख है-एक विषयुक्त रुरु के सींघ वाले (अलाक्ता रुरुशीर्ष्णी) तथा लोहे की नोंक वाले (अयोमुख)। वाणों के मूल में पंख लगाये जाने का उल्लेख मिलता है (अ.वे. ६.७५.११; १०.१८.१४; अ.वे. ५.२५.१)। ऐसा प्रतीत होता है कि कर्मारों के अन्तर्गत ही कुछ लोग बाण का निर्माण करने में निपुण होते थे, इसलिये वे यही काम करते थे। 'इषुकृत्' (ऋ.वे. १.१८४.३; वा.सं. १६.४६) तथा 'इषुकार' (वा. सं. ३०.७; तै.ब्रा. ३.४.३.१) शब्दों का प्रयोग इन्हीं लोगों के लिये किया गया है। युद्ध के लिये उपयोगी अस्त्र-शस्त्र, कवच, ढाल, आदि का निर्माण कर्मार ही करते थे।

धातुओं में हिरण्य, रजत, सीस आदि से आभूषण, तावीज आदि के निर्माण का उद्योग 'हिरण्यकार' करता था (वा.सं. ३०.१७; तै.ब्रा. ३.४.१४.१)। आर्य स्वर्ण तथा रजत के आभूषण धारण करते थे। इसलिये आभूषण बनाने का उद्योग उस समय समुन्नत अवस्था में था। आर्यों के मणि धारण करने का भी उल्लेख अनेक मन्त्रों में मिलता है। मणि की शक्ति में आर्यों का अटूट विश्वास था, इसलिये सभी प्रकार की बाधाओं की निवृत्ति के लिये वे विविध प्रकार की मणियों को धारण करते थे। इसलिये यह स्वाभाविक है कि उस समय मणिकारों का भी स्वतन्त्र उद्योग प्रचलित हो। संहिताओं में 'मणिकार' का उल्लेख मिलता है (वा.सं. ३०.७; तै.ब्रा. ३.४.३.१)। अ.वे. में मणि-धारण की विशेष विधियों तथा मणि की शक्ति का उल्लेख अनेक सूक्तों में किया गया है (अ.वे. १.२९.१; २.४.१;२; ८.५.१; १०.६.२४; इत्यादि)। मणियों की माला भी लोग पहनते थे जिसका निर्माण मणिकार ही करता था। स्वर्ण तथा चाँदी के अतिरिक्त भी कई प्रकार के रत्न थे जिनसे आभूषण तैयार करने का कार्य स्वर्णकार तथा मणिकार ही करते थे। मणियों तथा रत्नों के पारखी भी उस समय होते थे जो मणियों तथा रत्नों की पहचान करते थे।

Scanned with CamScanner

वस्त्र-उद्योग- वैदिक काल में कपड़े का उद्योग भी समुन्नत अवस्था में था। सूत, रेशम तथा ऊन तैयार करके उनसे वस्त्र बनाया जाता था। कपड़ा बुनने की प्रक्रिया तथा उसमें प्रयुक्त उपकरणों के अनेक पारिभाषिक शब्द उल्लिखित मिलते हैं। ताना रूप में सूत को जो लम्बाई में फैलाया जाता है उसे 'तन्तु' कहते हैं (अ.वे. १६.२.५१); चौड़ाई में जो सूत से बुना जाता है उसे 'ओतु' (ऋ.वे. ६.६.२;३; तै.सं. ६.१.१.१ इत्यादि), जिससे बुना जाता है उस ढरकी को 'तसर' (ऋ.वे. १०.१३०.२), करघे को 'वेमन्' (वा.सं. १६.८३) तथा धागे को फैलाये रखने के लिये प्रयुक्त खूँटी को 'मयूख' (ऋ.वे. ७.६६.३; तै.सं. २.३.१.५; काठ.सं. ११.६; ऐ.ब्रा. ५.१५) कहते थे। सूत को खींचे रखने के लिये एक तरफ भार रूप में 'सीस' का प्रयोग किया जाता था (वा.सं. १६.२०)। बुनकर को 'वाय' कहा जाता था (ऋ.वे. १०.२६.६)। कपड़ा बुनने का काम विशेष रूप से स्त्रियाँ करती थीं (अ.वे. १०.७.४२; ६.२.५१)। अ.वे. में दिन और रात्रि को दो बहनों के रूप में संवत्सररूप वस्त्र के बुनने का आलंकारिक रूप में उल्लेख किया गया है।[1] वस्त्रों को बुनने के साथ-साथ उन पर कढ़ाई का भी उद्योग प्रचलित था। ऐसे कढ़ाई किये गये वस्त्रों के लिये 'पेशस्' शब्द का प्रयोग मिलता है (ऋ.वे. २.३.६; ८.३१.११; वा.सं. १६.८२; २०.४; ऐ.ब्रा. ३.१०)। वैदिक काल में वस्त्र-उद्योग काफी विकसित था। मलमल जैसे बारीक वस्त्र भी बनते थे जो पारदर्शी होते थे। उषस् के वर्णन में ऐसे वस्त्रों का संकेत मिलता है।

चर्म-उद्योग- वैदिक काल में चर्म-उद्योग अर्थ-व्यवस्था का प्रमुख अंग था। चमड़े का उद्योग करने वाले 'चर्मण्य' (ऐ.ब्रा. ५.३२) कहलाते थे। चमड़े से कई वस्तुओं का निर्माण किया जाता था। धनुष् की प्रत्यंचा (ज्या), अश्वों के लगाम की रस्सी (रश्मि या प्रग्रह), रथ बाँधने वाली रस्सी, चाबुक की रस्सी, जूते आदि सब चमड़े से बनते थे। कोश तथा दृति जिनमें जल, मधु, सुरा आदि रखा जाता था चमड़े से बने होते थे (ऋ. वे. ६.६६..२८-२६)। चर्मवाद्यों का निर्माण भी सम्भवतः इसी उद्योग के अन्तर्गत था। अ.वे. ५.२१.७ तथा श.ब्रा. ५.२.१.१२ में मृग और बकरे के चर्म को बहुत महत्त्व का बताया गया है। बैल के चमड़े से 'अधिषवणचर्म' का निर्माण किया जाता था जिस

---

१. तन्त्रमेके युवती विरूपे अभ्याक्रामं वयतः षण्मयूखम्।
प्रान्या तन्तूंस्तिरते धत्ते अन्या नाप वृञ्जाते न गमातो अन्तम्।।
तयोरहं परिनृत्यन्तोरिव न वि जानामि यतरा परस्तात्।
पुमानेनद्वयत्युदृणत्ति पुमानेनद्वि जभाराधि नाके।।
इमे मयूखा उत तस्तभुर्दिवं सामानि चकुस्तसराणि वातवे।। -अ.वे. १०.७.४२-४४

Scanned with CamScanner

पर रखकर सोम पीसा जाता था (ऋ.वे. १०.९४.६)। चमड़े के थैले भी बनाये जाते थे। चमड़े को रगड़ कर चिकना करने की कला चर्मकारों को मालूम थी। इस प्रकार का कार्य करने वालों के लिये 'चर्मम्न' शब्द का प्रयोग मिलता है (ऋ.वे. ८.५.३८; वा.सं. ३०.१५; तै.ब्रा. ३.४.१३.१)। रोंयेदार या फर वाले चमड़े का व्यवसाय करने वाले के लिये 'अजिनसन्ध' शब्द का प्रयाग मिलता है।[1] अजिन वस्त्र फरदार चमड़े का होता था। बकरा, मृग, सिंह आदि के चर्म फरदार होते थे और उनका उसी रूप में उपयोग होता था। 'अजिनसन्थ' तथा 'चर्मम्न' में भेद था। 'अजिनसन्ध' का अर्थ था रोयेंदार अजिनवस्त्र तैयार करने वाला (अजिनसन्धं = चर्मसन्धातारं-वा.सं. ३०.१५ पर महीधर -भाष्य) तथा 'चर्मम्न' का अर्थ था चमड़े को रगड़कर चिकना करने वाला (चर्मम्नं=चर्माभ्यासकरं-वा.सं. ३०.१५ पर महीधर-भाष्य)। चमड़े को फैलाते समय उसे शंकुओं से बाँधने का उल्लेख मिलता है (श.ब्रा. २.१.१.१०)। चमड़े को मुलायम करने के लिये उसे पानी में भिगोया जाता था (ऋ.वे. १.८५.५)। ग्राम्य पशुओं की अपेक्षा वन्य पशुओं का चर्म अधिक उपयोगी होता था, इसलिये चमड़े के लिये भी वन्य पशुओं का शिकार किया जाता था। वाराह के चमड़े का जूता अधिक प्रिय था (श.ब्रा. ५.४.३.१६)।

मृत्पात्र-उद्योग- वैदिक काल में मिट्टी के पात्रों के बनाने का उद्योग भी समुन्नत अवस्था में था। मिट्टी के पात्रों का निर्माण करने वाले के लिये 'कुलाल' शब्द का प्रयोग मिलता है (वा.सं. १६.२७)। 'कुलालकृत' शब्द का प्रयोग मृत्पात्र के लिये मिलता है (मै.सं. १.८.३)। घर में प्रयोग होने वाले मृत्पात्रों का तो निर्माण कुलाल करता ही था, यज्ञों में प्रयुक्त होने वाले मृत्पात्रों का भी निर्माण वही करता था। कुम्भकार के लिये 'मृत्पच' शब्द का भी प्रयोग मिलता है (मै.उप. २.६; ३.३)। काठ.सं. ३१.२ में 'मृत्पात्र' शब्द का उल्लेख मिलता है। ऋ.वे. ७.१०४.२१ में इन्द्र को एक (मृत्-) पात्र की तरह शत्रु को नष्ट करने वाला बताया गया है। ऋ.वे. १०.८९.७ में इन्द्र द्वारा पर्वतों को नये कुम्भ की तरह तोड़ने का उल्लेख है। कुलाल जिस पर रखकर मिट्टी का वर्तन बनाता था उसे 'कौलाल चक्र' कहा जाता था (श.ब्रा. ११.८.१.१)।

चटाई-उद्योग- वैदिक काल में चटाई, टोकरी आदि बुनने का भी उद्योग उन्नत अवस्था में था। चटाई के लिये 'कट' शब्द का प्रयोग मिलता है (तै.सं. ५.३.१२.२; श.ब्रा. १३.२.१.३)। चटाई के लिये 'कशिपु' शब्द का भी प्रयोग मिलता है (अ.वे. ६.

---

१. वा.सं. ३०.१५

Scanned with CamScanner

१३८.५)। चटाई तथा टोकरी आदि के बनाने का काम प्रायः स्त्रियाँ करती थीं। यह इस बात से ज्ञात होता है कि 'विदलकारी' शब्द बाँस की टोकरी बनाने वाली औरत के लिये प्रयुक्त मिलता है (वा.सं. ३०.८)। पुरुष भी इस काम को करते थे इसका प्रमाण तै.ब्रा. ३.४.५.१ है जहाँ 'विदलकार' का उल्लेख किया गया है। वेतस् तथा मूँज की भी चटाई तथा टोकरी बनाई जाती थी। 'वेतस्' शब्द का उल्लेख अनेक स्थलों पर मिलता है। अग्नि को 'हिरण्मय वेतस्' कहा गया है। चूँकि वेतस् जल में उत्पन्न होता है इसलिये जल से उत्पन्न होने वाले अग्नि को भी 'हिरण्मय वेतस्' कहा है (ऋ.वे.५.५८.५)। श.ब्रा. मूँज की रस्सी से आसन्दी के बुनने का उल्लेख करता है (श.ब्रा.१२.८.३.६)। यहाँ बुनने के लिये 'विनयन' शब्द का प्रयोग किया गया है। नड़ को पाषाण से अच्छी प्रकार से कूटकर उससे कशिपु का निर्माण किया जाता था(अ.वे.६.१३८.५)। श.ब्रा. 'हिरण्मय कशिपु' का उल्लेख करता है जिस पर होता नामक ऋत्विक् बैठता था (श.ब्रा. १३.४.३.१)। 'हिरण्मय कशिपु' का अर्थ सोने की चटाई ऐसा किया जाता है,[1] किन्तु यहाँ हिरण्मय का अर्थ हिरण्य के रंग की वेतस् की चटाई करना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। वा.सं.३०.८ में 'कण्टककारी' शब्द उस स्त्री के लिये प्रयुक्त है जो काँटे से चटाई बनाने का पेशा करती थी। तै.ब्रा.३.४.५.१ 'कण्टककार' शब्द का प्रयोग उस पुरुष के लिये करता है जो काँटे से चटाई बनाने का कार्य करता था। ऋ.वे.१०.८५.३४ में 'कटुक वस्त्र' का उल्लेख है जो सम्भवतः चटाईनुमा कोई मोटा वस्त्र हो।

इन उद्योगों के अतिरिक्त भी कई अन्य छोटे-मोटे उद्योग थे जो वैदिक काल में लोग अपनी आजीविका के लिये करते थे। यह बात उल्लेखनीय है कि इन उद्योगों के नाम के आधार पर ही उद्योग करने वालों के नाम प्रचलित थे, जैसे रथकार, पेशत्करी इत्यादि। किन्तु ये शब्द किसी भी प्रकार उस समय जातिवाचक नहीं थे। ये कर्म-वाचक नाम थे। उस समय उद्योग वैयक्तिक था। कोई भी व्यक्ति अपनी आजीविका के लिये कोई भी व्यवसाय कर सकता था। ऋ.वे. के एक सूक्त में इसका स्पष्ट उल्लेख मिलता है।[2] वा.

---

१. मैकडानल और कीथ, वेदिक इण्डेक्स, भाग-१, पृ. १४४

२. नानानं वा उ नो धियो वि व्रतानि जनानाम्।
तक्षा रिष्टं रुतं भिषग् ब्रह्मा सुन्वन्तमिच्छतीन्द्रायेन्दो परि स्रव।।
जरतीभिरोषधीभिः पर्णेभिः शकुनानाम्।
कार्मारो अश्मभिर्द्युभिर्हिरण्यवन्तमिच्छतीन्द्रायेन्दो परि स्रव।।
कारुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना।
नानाधियो वसूयवोऽनु गा इव तस्थिमेन्द्रायेन्दो परि स्रव।। -ऋ.वे. ९.११२.१-३

Scanned with CamScanner

सं. के ३०वें अध्याय में १५९ प्रकार के उद्योगों का संकेत मिलता है।

वाणिज्य एवं यातायात-

विभिन्न गृह-उद्योगों के अतिरिक्त अर्थप्राप्ति का स्रोत व्यापार भी था। वैदिक काल में व्यापार समुन्नत अवस्था में था इसका अनुमान एतद्विषयक पारिभाषिक शब्दों के वेदों में उल्लेख से होता है। यह सामान्य नियम है कि जब किसी वस्तु का उत्पादन होगा तब उसकी खपत भी होनी चाहिये। जहाँ वस्तु प्रचुर मात्रा में उत्पन्न होती है वहाँ उसकी खपत नहीं हो सकती। उसकी खपत वहाँ अधिक होगी जहाँ वह वस्तु उत्पन्न न होती हो। इसलिये जो वस्तु जहाँ उत्पन्न होती है उसको अन्य स्थल पर उपलब्ध कराना जहाँ वह उत्पन्न नहीं होती व्यापार का मुख्य उद्देश्य है। इससे वस्तु का आदान-प्रदान होता है। इसमें व्यापारी को लाभ प्राप्त होता है। वस्तु का खरीदना क्रय है तथा बेचना विक्रय है। जो कीमत किसी वस्तु के लिये दी जाती है वह आदान-प्रदान का माध्यम होती है। वैदिक काल में वस्तुओं के क्रय की इकाई गाय मानी जाती थी (ऋ.वे.४.२४.१०), किन्तु स्वर्ण की बनी मुद्रा 'निष्क' का प्रयोग अधिक प्रचलित था (ऋ.वे.१.१२६.१-२; ५.१९.३)। ऋ.वे. में क्रय की वाचक√क्री धातु का प्रयोग मिलता है (ऋ.वे.४.२४.१०)। परवर्ती संहिताओं में क्रय[1] शब्द तथा क्रय की वाचक√ क्री धातु[2] का प्रचुर प्रयोग मिलता है। किसी वस्तु की जो कीमत दी जाती थी उसे 'शुल्क' कहा जाता था (ऋ.वे. ८.१.५; ७.८२.६)। वस्तु के मूल्य को 'वस्न' कहा जाता था (ऋ.वे. ४.२४.९; अ.वे. १२.२.३६; वा.सं. ३.४९; तै.सं. १.८.४.१; काठ.सं. ९.५; मै.सं.१.१०.२)। मूल्य के रूप में धन प्राप्त करने की कामना करने वाले को 'वस्नयन्' कहा जाता था (ऋ.वे. ४.४७.२१) । बहुमूल्य पदार्थ को 'वस्न्य' कहते थे (ऋ.वे.१०.३४.३)। अ.वे.३.१५.४. में 'प्रपण', 'विक्रय' तथा 'प्रतिपण' शब्द का प्रयोग मिलता है। 'प्रपण' क्रय के लिये तथा 'प्रतिपण' आदान-प्रदान के लिये प्रयुक्त था। यह बात स्वाभाविक है कि प्रत्येक क्रेता अच्छी वस्तु कम मूल्य में क्रय करना चाहता है। दूसरी तरफ विक्रेता हीन वस्तु का भी अधिक मूल्य चाहता है। वैदिक काल में भी यह प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। ऋ.वे.

---

१. तैसं. ३.१.२.१; ६.१.३.३; वा.सं. ८.५५; १९.१३; श.ब्रा. ३.३.२.१०

२. अ.वे. ३.१५.२; तै.सं. ६.१.१०.३; ७.१.६.२; इत्यादि; अप √ क्री - अ.वे. ८.७.११; परि √ क्री - अ.वे. ४.७.६; वि √ क्री - वा.सं. ३.४९ इत्यादि)।

Scanned with CamScanner

४.२४.६ में स्पष्ट रूप से इस बात का उल्लेख किया गया है कि एक विक्रेता अधिक मूल्य की वस्तु क्रेता को कम मूल्य में अनजानी में दे देता है। यह मालूम होने पर कि वह वस्तु अधिक मूल्य की है, क्रेता के पास जाता है और कहता है कि इस वस्तु को बेचा हुआ न समझो। ऐसा कहकर क्रेता से अधिक मूल्य लेना चाहता है, किन्तु उसके मूल्य की क्षतिपूर्ति क्रेता नहीं करता। क्योंकि उस समय क्रय-विक्रय की यह नैतिकता थी कि जो मूल्य एक बार बेचते समय निर्धारित हो गया वही मूल्य अन्तिम माना जाता था, और यह नियम कमजोर तथा बलवान् सबके लिये समान रूप से था।[1]

वैदिक काल में वस्तुओं के तौलने की प्रथा का संकेत मिलता है। अनाज को कुम्भ पात्रों से नापा जाता था। 'ऊर्दर' इसी प्रकार का कोई माप करने वाला कुम्भपात्र होगा। तराजू के लिये 'तुला' शब्द का प्रयोग मिलता है (वा.सं. ३०.१७; श.ब्रा. ११.२.७. ३३)। किन्तु यहाँ मनुष्य के पाप-पुण्य कर्मों को तौलने वाली तुला के रूप में इसका उल्लेख है। माप के 'मान' संज्ञक तौलमापक का उल्लेख मिलता है (तैसं. ३.२.६.३; ६.४.१०.२; श.ब्रा. ५.४.३.२४; इत्यादि)। 'कृष्णल' भी एक छोटा तौलमापक था (तै. सं. २.३.२.१; मै.सं. २.२.२; काठ. सं. ११.४)। मान तथा कृष्णल स्वर्ण, मणि आदि के तौलमापक थे।

अ.वे. में औषधियों के विक्रय का उल्लेख मिलता है (अ.वे. ८.७.११)। एक मन्त्र में चादर (पवस्त), वस्त्र (दूर्श) तथा चमड़ा (अजिन) देकर विषनाशक औषधि के खरीदने का उल्लेख है।[2] ऊन तथा रेशम का भी व्यापार उस समय काफी उन्नत था। अ.वे. में एक वाणिज्य-सूक्त (३.१५) है, जिसमें तत्कालीन व्यापारसम्बन्धी अनेक महत्त्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है। व्यापार करने वाले के लिये 'वणिज्' शब्द का प्रयोग किया गया है। यहाँ इन्द्र को 'वणिज्' बताया गया है क्योंकि वही वाणिज्य के लिये प्रेरित करता है (अ.वे. ३.१५.१)। व्यापार का मुख्य उद्देश्य धन प्राप्त करना है। जिस राशि से वस्तु का क्रय किया जाता है उसे 'धन' नाम दिया गया है। धन से धन कमाने की इच्छा करना व्यापार का मूल है। व्यापारी चाहता है कि जिस धन से वह व्यापार

---

१. भूयसा वस्नमचरत्कनीयोऽ विक्रीतो अकानिषं पुनर्यन्।
स भूयसा कनीयो नारिरेचीद्दीना दक्षा वि दुहन्ति प्र वाणम्।।
क इमं दशभिर्ममेन्द्रं क्रीणाति धेनुभिः।
यदा वृत्राणि जंघनदथैनं मे पुनर्ददत्।। -ऋ.वे. ४.२४.६-१०

२. पवस्तैस्त्वा पर्यक्रीणन्दूर्शेभिरजिनैरुत।
प्रक्रीरसि त्वमोषधेऽ श्रिखाते नरू रुपः।। -अ.वे. ४.७.६

Scanned with CamScanner

कर रहा है, वह धन बढ़े, किसी प्रकार कम न हो।[1] व्यापार की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि जिस धन से व्यक्ति व्यापार कर रहा है उस धन को बढ़ाने में उसकी निरन्तर रुचि बनी रहनी चाहिये।[2] व्यापार में सामान लेकर बाहर जाना पड़ता है। मार्ग में चोर, लुटेरे, शत्रु आदि धन छीन सकते हैं; हिंसक पशु वन के रास्ते गुजरते व्यक्ति की हिंसा कर सकते हैं, इसलिये व्यापार करने जाते समय व्यापारी इन्द्र की स्तुति करते, ताकि वह इनसे उनकी रक्षा करे।[3] बाहर जाते समय कई विकट मार्ग भी पार करने होते थे जहाँ जल भी नहीं मिलता था। इसलिये आर्य लोग बाहर जाते समय सदा प्रार्थना करते थे कि मार्ग में जाते समय उन्हें पानी, भोजन, दूध आदि सब मिलता रहे, ताकि वे सकुशल सामान खरीद कर धन ला सकें।[4] वाणिज्य कर्म में बुद्धि और बल की भी अपेक्षा होती है। इसलिये सैकड़ों प्रकार के लाभ के लिये मन्त्र द्वारा शक्ति और बुद्धि की अधिष्ठात्री देवी की प्रार्थना करते थे और उनके लिये घृत की आहुति प्रदान करते थे।[5] वाणिज्य के लिये दूर जाने पर भी वे अपनी सफलता के लिये अग्नि की उपासना करते थे।[6]

वैदिक काल में आने-जाने के अनेक प्रकार के स्थलमार्ग थे। मनुष्यों के चलने, रथों के चलने तथा बैलगाड़ी (अनस्) के चलने के मार्ग अलग-अलग होते थे। उन मार्गों पर धर्मात्मा भी चलते थे, पापवृत्ति वाले भी चलते थे। इसलिये पृथिवी देवी से भी प्रार्थना

---

१. येन धनेन प्रपणं चरामि धनेन देवा धनमिच्छमानः।
तन्मे भूयो भवतु मा कनीयोऽग्ने सातघ्नो देवान्हविषा नि षेध।। -अ.वे. ३.१५.५

२. येन धनेन प्रपणं चरामि धनेन देवा धनमिच्छमानः।
तस्मिन्म इन्द्रो रुचिमा दधातु प्रजापतिः सविता सोमो अग्निः।। -अ.वे. ३.१५.१६

३. इन्द्रमहं वणिजं चोदयामि स न एतु पुरएता नो अस्तु।
नुदन्नरातिं परिपन्थिनं मृगं स ईशानो धनदा अस्तु मह्यम्।। -अ.वे. ३.१५.१

४. ये पन्थानो बहवो देवयाना अन्तरा द्यावापृथिवी संचरन्ति।
ते मा जुषन्तां पयसा घृतेन यथा क्रीत्वा धनमा हराणि।। -अ.वे. ३.१५.२

५. इध्मेनाग्न इच्छमानो घृतेन जुहोमि हव्यं तरसे बलाय।
यावदीशे ब्रह्मणा वन्दमान इमां धियं शतसेयाय देवीम्।। -अ.वे. ३.१५.३

६. इमामग्ने शरणिं मीमृषो नो यमध्वानमगाम दूरम्।
शूनं नो अस्तु प्रपणो विक्रयश्च प्रतिपणः फलिनं मा कृणोतु।।
इदं हव्यं संविदानौ जुषेथां शुनं नो अस्तु चरितमुत्थितं च।। -अ.वे. ३.१५.४

Scanned with CamScanner

की गई है कि वह सभी प्रकार के मार्गों को शत्रु-बाधा से मुक्त करे।[1] रेगिस्तान के मार्ग से भी जाना पड़ता था। वर्षा हो जाने पर रेगिस्तान का मार्ग चलने के लायक हो जाता था।[2] रेगिस्तान में सामान ढोने के लिये ऊंट का उपयोग होता था।

वैदिककाल में यातायात का प्रमुख साधन रथ था जिसमें अश्व जोते जाते थे। किन्तु इसका विशेष उपयोग युद्ध या यात्रा के लिये था। सामान ढोने के लिये 'अनस्' का प्रयोग होता था जिसे बैल खींचते थे (ऋ.वे.४.३०.१०;१०.८५.१०;८६.१८; श.ब्रा.१.१.२.५ इत्यादि)। अनस् को खींचने के कारण ही बैल की 'अनड्वाह' संज्ञा थी। अनस् का ऊपरी भाग आच्छादित होता था जिसे 'छदिः' कहा जाता था (ऋ.वे.१०.८५.१०)। विवाह के बाद वधू को इसी में ले जाया जाता था। अनस् के अतिरिक्त शकट या शकटी (ऋ.वे.१०.१४६.३;ष.विंश.ब्रा.४.७) भी एक प्रकार की भार ढोने वाली गाड़ी थी जिसे बैल खींचते थे। चलते समय यह आवाज करती थी। अरण्यानी की आवाज की तुलना शकटी से की गई है (ऋ.वे.१०.१४६.३)। स्थल मार्ग पर चलने के लिये यह प्रार्थना की गई है कि वह काँटों से रहित (अनृक्षरा) तथा सीधा (ऋजु) हो(अ.वे.१४.१.३४)।

वैदिक काल में सप्तसिन्धु प्रदेश के चारों तरफ समुद्र था (ऋ.वे.६.३३.६)। इसलिये समुद्र मार्ग से भी आर्य यातायात करते थे। समुद्र में चलने वाली नौकाओं का उल्लेख ऋ.वे. में मिलता है (ऋ.वे.१.२५.७;४६.७;६७.७;८.८३.३; इत्यादि)। नौका जिनसे खेयी जाती है उन चप्पुओं के लिये 'अरित्र' शब्द का प्रयोग मिलता है। सौ अरित्रों वाली नौका का भी उल्लेख मिलता है (ऋ.वे.१.११६.५; वा.सं.२१.७)। ऋ.वे.१०.१०१.२ में 'अरित्रपरणी' नाव का उल्लेख है। चप्पुओं को खेते समय खेने वाले के द्वारा उत्पन्न शब्द का भी उल्लेख मिलता है (*इयर्ति वाचमरितेव नावम्*-ऋ.वे.२.४२.१)। नाव खेने वाले के लिये 'अरितृ' शब्द का प्रयोग मिलता है (ऋ.वे.२.४२.१;६.६५.२)। अ.वे.५.१९.८ में टूटी हुई नाव के समुद्र में डूबने का उल्लेख है। वह राष्ट्र जहाँ ब्राह्मण को पीड़ित किया जाता है उसी प्रकार नष्ट हो जाता है जिस प्रकार टूटी हुई नाव समुद्र में डूब जाती है। नाव के लिये 'प्लव' शब्द का भी प्रयोग मिलता है। यह बड़ी मजबूत तथा तेज चलने वाली नौका थी (ऋ.वे.१.१८२.५)। भुज्यु को बचाने के लिये अश्विनी कुमारों ने चार नौकायें एकसाथ भेजी थी (ऋ.वे.१.१८२.६)। एक अत्यन्त धीर नाविक

---

१. ये ते पन्थानो बहवो जनायना रथस्य वर्त्मानसश्च यातवे।
यैः संचरन्त्युभये भद्रपापास्तं पन्थानं जयेमानमित्रमतस्करं यच्छिवं तेन नो मृड।।-अ.वे.१२.१.४७

२. अवर्षीर्वर्षमुदु सु गृभायाकर्धन्वान्यत्येतवा उ। -ऋ.वे. ५.८३.१०

Scanned with CamScanner

'शम्वी' का उल्लेख मिलता है *'शम्वीव नावमुदकेषु धीरः'* (अ.वे. ९.२.६)। इन सब उल्लेखों से यह बात स्पष्ट होती है कि वैदिक काल में समुद्र या नदीमार्ग से व्यापार करने के लिये लोग बाहर जाते थे (ऋ.वे. १.५६.२; ४.५५.६; इत्यादि)।

वैदिक काल में आर्यों की अर्थव्यवस्था को प्रभावित करने वाले पणि लोग थे जिनका चिन्तन आर्यों से भिन्न था। वे यज्ञ-यागादिक कर्मों में विश्वास नहीं करते थे; अर्थ ही उनके जीवन का मूल था वे संग्रह करना जानते थे, त्याग या दान करना नहीं। आर्य लोग वस्तु को संचित करने के विरुद्ध स्वभाव के थे। वे वस्तु का संचय करते थे दान तथा यज्ञ के लिये, न कि उससे अधिक लाभ कमाने के लिये। इसके विपरीत पणि वस्तु को संचित करके कृत्रिम अभाव की स्थिति उत्पन्न कर उसे अधिक लाभ पर बेचते थे। उनके पास गुप्त धन बहुत था। पणियों के लिये अ.वे.४.२५.७ में दो विशेषण मुख्य रूप से प्रयुक्त हुये हैं- 'रेवत्' (धन का संचय करने वाला) तथा 'असुन्वत्' (यज्ञ या दान न करने वाला)। पणियों का प्रमुख उद्देश्य धन कमाना था। ये लोभी थे; दया और दान इनके अन्दर नाम मात्र का नहीं था। इसीलिये आर्य उनसे घृणा करते थे और अपने देवताओं से उन्हें नष्ट करने के लिये प्रार्थना करते थे। ऋषि भरद्वाज इनके प्रति इतने कठोर दिखाई पड़ते हैं कि वे पूषन् देवता से कहते हैं कि वह उनके मन को दान के लिये प्रेरित करे, और यदि ऐसा न हो सके तो वह उनके हृदय को अपनी आरा से काट कर चूर-चूर कर दें (ऋ.वे. ६.५३.५-७)। ऋ.वे. में एक सम्पूर्ण सूक्त (१०.१०८) पणियों से सम्बन्धित है। इस सूक्त में उनके स्वभाव का चित्रण किया गया है। वे प्रलोभन देकर गलत ढंग से धन का अपहरण करते थे। चोरी भी करके धन संचित करते थे। रिश्वत देने में भी आगे थे। जब सरमा पणियों के पास पहुँची तब उन्होंने उसे प्रलोभन दिया कि चुराये गये संचित धन में से वे उसे हिस्सा देंगे तथा उसे अपनी बहन बना लेंगे (ऋ.वे. १०.१०८.६)। पणियों के लिये 'अराधसः' पद का प्रयोग किया गया है जिसका अर्थ है कभी न देने वाला (ऋ.वे. ८.६४.२)। इनके लिये 'वेकनाट' (ऋ.वे. ८.१६.१०) शब्द का भी प्रयोग मिलता है जिसका अर्थ यास्क के अनुसार सूदखोर है।[1] यास्क ने पणियों को वणिक् कहा है।[2] वस्तुतः आर्य वणिज् और पणि में यह अन्तर था कि एक वस्तु का संचय करके अभाव उत्पन्न नहीं करता था; सूदखोर

---

१. वेकनाटाः खलु कुसीदिनो भवन्ति द्विगुणकारिणो वा द्विगुणदायिनो द्विगुणं कामयन्ते इति वा। -निरु. ६.२७

२. पणिर्वणिग् भवति। पणिः पणनात्। वणिक् पण्यं नेनेक्ति। -निरु. २.१७

Scanned with CamScanner

नहीं था; नियत मूल्य पर अल्प लाभ लेकर वस्तु को बेचता था; सदा दान-दक्षिणा देता था; यज्ञ करता था जबकि दूसरा वस्तु का संचय करके कृत्रिम अभाव उत्पन्न करता था; सूदखोर था; दान-दक्षिणा नहीं देता था तथा कभी यज्ञ नहीं करता था।

वैदिक काल में धन जमा करने के लिये आज की तरह बैंकिंग प्रणाली नहीं थी। धन विशेष रूप से अन्न एवं पशु रूप में था जिनको कहीं किसी के पास जमा करने की आवश्यकता नहीं थी। स्वर्ण ही उस समय बहुमूल्य सम्पत्ति थी जिससे आभूषण का निर्माण होता था तथा उसी की बनी मुद्रा 'निष्क' का आदान-प्रदान में व्यवहार था। स्वर्ण की मुद्रा को तथा आभूषणों को लोग घड़े में बन्द कर जमीन में गाड़ कर रखते थे। छा.उप. ८.३.२ में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि इस प्रकार जमीन में गाड़ी गई 'हिरण्यनिधि' को जो उसका जानकार नहीं प्राप्त नहीं कर सकता। ऐसे कलशों को चोरों द्वारा चुराने का भी संकेत मिलता है। बृह.उप. में इस बात का उल्लेख है कि शाकल्य की अस्थियों को जिसे उनके शिष्यों ने कलश में रखा था, चोर अन्य धन समझ कर उसे उठा ले गये।

वैदिक काल में व्याज पर ऋण लेने की प्रथा प्रचलित थी। ऋ.वे. से लेकर परवर्ती संहिताओं, ब्राह्मणों में तथा आरण्यकों एवं उपनिषदों में इसका उल्लेख मिलता है। जो लोग सूद पर ऋण देते थे उनके लिये 'कुसीदिन्' शब्द का प्रयोग मिलता है (श.ब्रा. १३.४.३.११; तै.सं. ३.३.८.८.६)। जिनसे उधार लिया जाता था उनको 'श्रेष्ठिन्' (ऐ. ब्रा. ३.३०; कौषी.ब्रा. ३८.६; तै.ब्रा. ३.१.४.१०) कहा जाता था। सम्भवतः गाँव का ग्रामणी भी ऋण देता था, क्योंकि वह अत्यन्त समृद्ध होता था। ऋण वापस करने के लिये 'ऋण-संनयन' शब्द प्रयुक्त था। व्याज की दर के लिये 'कला' तथा 'शफ' शब्दों का प्रयोग मिलता है।[1] ऋण लिये धन का १६वाँ भाग 'कला' तथा ८वाँ भाग 'शफ' कहलाता था। ऋण वापस करते समय इतना व्याज साथ में चुकाना पड़ता था। ऋण मूलधन था जो व्याज के कारण हमेशा बढ़ता जाता था। इसलिये ऋण को वापस करना हमेशा चिन्ता का विषय होता था। ऋण का वापस न करना बड़ा पाप समझा जाता था। अ.वे. के तीन सूक्त (६.११७-११९) ऋणमुक्त होने की भावना को द्योतित करते हैं। वस्तुतः ऋण लेना अच्छा नहीं समझा जाता था। ऋण प्रायः वे लेते थे जो जूआ आदि खेलते थे (ऋ.वे. १०.३४.१०; अ.वे. ६.११९.१)। ऋण वापस न करने पर जुआड़ी

---

१. यथा कलां यथा शफं यथ ऋणं संनयामसि। -ऋ.वे. ८.४७.१७

Scanned with CamScanner

की क्या दशा होती थी यह ऋ.वे. के अक्षसूक्त से पता चलता है। ऋणी जुआड़ी को रस्सी में बाँधकर ले जाया जाता था (ऋ.वे. १०.३४.४)। ऋ.वे. ८.३२.१६ में सोमपायी ब्राह्मण को सभी प्रकार के ऋणों से मुक्त माना गया है।

वैदिक काल में ब्राह्मण, राजन्य या क्षत्रिय, वैश्य तथा शुद्र ये चार वर्ण चार प्रकार के व्यवसाय के द्योतक हैं। समाज का बुद्धिजीवी वर्ग ब्राह्मण था जिसका मुख्य कार्य अध्ययन-अध्यापन तथा यज्ञ करना-कराना था। इसलिये इसकी आजीविका दान एवं दक्षिणा पर आधारित थी। ब्राह्मण यही कामना करता था कि यज्ञ-यागादिक कर्म होते रहें जिससे उसे प्रचुर दान और दक्षिणा प्राप्त होती रहे। दान और दक्षिणा में अन्तर है। उदारतापूर्वक अपनी ओर से ब्राह्मणों को विभिन्न अवसरों पर उपहार देना दान है तथा यज्ञ में आर्त्विज्य कर्म करने वाले ब्राह्मणों को यज्ञ की सम्पूर्ति के लिये दिया गया दान दक्षिणा है। ऋ.वे. के एक सम्पूर्ण सूक्त (१०.१०७) में दक्षिणा का महत्त्व बताया गया है। दान तथा दक्षिणा में दी जाने वाली वस्तुओं में अश्व, गाय, हिरण्य, अन्न, वस्त्र आदि प्रमुख थे। (ऋ.वे. १०.१०७.७)। ब्राह्मणग्रन्थों में भिन्न-भिन्न यज्ञों में भिन्न-भिन्न दक्षिणाओं का उल्लेख मिलता है।

क्षत्रिय या राजन्य की आजीविका का साधन राजकोष से प्राप्त धन था जो कर या उपहार के रूप में राजाओं को प्राप्त होता था। विशों से राजाओं को प्राप्त होने वाले कर को 'बलि' कहा जाता था (अ.वे. ६.११७.१; तै.ब्रा. १.२.३.२)। इसीलिये विशों को 'बलिहृत्' कहा गया है (ऋ.वे. ७.६.५; १०.१७३.६; अ.वे. ११.४.१६; काठ.सं. २६.७; श.ब्रा. १.३.२.१५; तै.सं. १.६.२.१)। निर्धन या कमजोर व्यक्ति के द्वारा बलवान् को दिये जाने वाले कर के लिये 'शुल्क' शब्द का भी प्रयोग मिलता है (अ.वे. ३.२६.३)। यह बात उल्लेखनीय हे कि ब्राह्मणों से कोई राजा 'बलि' या 'शुल्क' नहीं ले सकता था। ब्राह्मण सभी प्रकार के शुल्कों से मुक्त थे (श.ब्रा. १३.६.२.१८; ७.१.१३)। ब्राह्मणों का राजा सोम माना जाता था, इसलिये पार्थिव राजाओं को उनकी ओर से कुछ भी देय नहीं था। राजा ही उन्हें दान और दक्षिणा देते थे।

वैदिक काल में सभी प्रकार का उद्योग तथा वाणिज्य विशों के हाथ में था, इसलिये उनकी आय का स्रोत वही था। कृषि, पशुपालन, उद्योग तथा वाणिज्य विशों की आय के प्रमुख स्रोत थे। विश् ही राजा को 'बलि' या 'शुल्क' प्रदान करते थे, इसलिये वे

Scanned with CamScanner

'बलिकृत' थे। राजा 'बलि' या शुल्क लेने वाला था इसलिये वह 'अत्ता' था (ऐ.

वैदिक काल में समाज का चौथा वर्ण शुद्र था जिसकी आजीविका का साधन पूर्व तीन वर्णों के लोगों की सेवा थी। अपनी सेवावृत्ति से ही उसे धन प्राप्त होता था। राजा को किसी भी प्रकार की 'बलि' या 'शुल्क' देने से वह मुक्त था।

Scanned with CamScanner